फिर सवाल ये होता है कि आखिर दु:ख का कारण क्या है, जो इससे भी कठिन प्रश्न है वह यह है कि जो अशिव है, बुरा है, असत् है, असुन्दर है, वो कहाँ से आता है। परम्परा में इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर देने की कोशिश की थी कि संसार अपने आप में ठीक है पर मनुष्य का कर्म ही उसके लिए उत्तरदायी है जिसे वह स्वयं अशिव, असत्, असुन्दर कहता है। लेकिन फिर भी एक प्रश्न बाकी रह जाता है वह यह है कि दु:ख तो प्राणी मात्र के साथ बँधा है और दु:ख कहाँ से आता है और क्यों आता है। जड़ प्रकृति के मूल में चेतना हो सकती है लेकिन उसमें दु:ख तो नहीं होता, अच्छे-बुरे को भेद एक बात है, दु:ख-सुख का भेद दूसरी बात है। कर्म के सिद्धान्त ने दोनों को मिलाने की कोशिश की थी लेकिन उसके मूल में जो गलती थी वह ये थी कि कर्म मनुष्य ही कर सकता है और उसके लिए वही उत्तरदायी हो सकता है जबकि सुख-दु:ख प्राणी मात्र का धर्म ही नहीं, लक्षण भी है और इसलिए उसे कर्म से जोड़ना बेमानी है। हाँ, यह सवाल ज़रूर पूछा जा सकता है कि क्या वनस्पति, वृक्ष आदि भी सुख-दु:ख अनुभव करते हैं। इसका उत्तर देना कठिन है, लेकिन याज्ञवल्क्य ने जनक की सभा में जिस बात से अपनी बात की समाप्ति की उसमें एक गहरी दृष्टि अवश्य है। बाद में छान्दोग्य में उद्दालक श्वेतकेतु को फिर बीज की बात बतायेंगे, लेकिन उसको और तरह से देखेंगे।

याज्ञवल्क्य की कहानी इसके बाद चौथे अध्याय में फिर जनक से संवाद के रूप में कही गई है। उसकी ओर ध्यान दिये बिना शायद हम याज्ञवल्क्य की बात को पूरी तरह नहीं समझ पायेंगे।

जनक के साथ उनका वार्तालाप यहीं से शुरू नहीं होता कि मृत्यु को कैसे समझा जाये, क्या जन्म के बगैर मृत्यु को समझा जा सकता है। जब जन्म होता है तो सब खुशी मनाते हैं और जब मृत्यु होती है तो सब बरबस आँसू बहाते हैं। इसमें क्या कोई राज़ छिपा है, इसकी बात शायद आगे चलकर कुछ खुलेगी। अभी तो इसका इन्तज़ार करना ही पड़ेगा।

❑

वेद और वर्ण-व्यवस्था

वर्ण की बात करते ही पुरुष सूक्त की बात होती है जिसके आधार पर ये कहा जाता है कि समाज में चार वर्ण की बात श्रुति सम्मत ही नहीं है, श्रुति निर्धारित भी है और इसलिये जो वेद के मानने वाले हैं उन्हें इस वर्ण-व्यवस्था को उसी रूप में स्वीकार करना पड़ेगा जिस रूप में वो मानते हैं। पर, पुरुष-सूक्त क्या है और उसमें क्या लिखा है, इस पर शायद ही कभी किसी ने ध्यान दिया हो।

पुरुष सूक्त ऋग्वेद (10.90) में मिलता है और वो किन्हीं ऐसे ऋषि का कहा जाता है जिनका नाम नारायण था। नारायण के नाम से जुड़ा हुआ ये सूक्त आज जो ऋग्वेद संहिता उपलब्ध है उसमें तो मिलता है लेकिन अगर हम निघण्टु और यास्क के निरुक्त को देखें तो उनमें ऋग्वेद के जिन देवताओं के नाम दिये हुये हैं, उनमें 'पुरुष' का नाम नहीं है। ये ध्यान देने की बात है कि पुरुष सूक्त का देवता 'पुरुष' है, जबकि नारायण उसके ऋषि हैं। 'पुरुष' रूप में देवता का नाम निघण्टु और निरुक्त में न होने से ऐसा लगता है कि ये सूक्त बाद का लिखा हुआ है और इसलिये कम से कम इसके पहले की जो ऋग्वेद की संहिता थी उसमें शायद ये सूक्त था ही नहीं।

ध्यान देने की बात ये है कि ऋग्वेद की संहिता केवल एक ही नहीं थी, बल्कि वो कई अनेक भिन्न-भिन्न रूपों में मिलती थी जिन्हें शाखा का नाम दिया जाता था। ऋग्वेद की इस प्रकार एक ही संहिता नहीं थी, बल्कि अगर पंतजलि के महाभाष्य की बात को स्वीकार करें तो उसके समय में इसकी इक्कीस भिन्न-भिन्न संहिताएँ थीं, जिन्हें शाखा का नाम दिया जाता था। यही नहीं, इसके बाद के लिखे गये चरणव्यूह सूत्र में ऋग्वेद की भिन्न-भिन्न पाँच संहिताओं का उल्लेख है, जिन्हें वे ऋग्वेद की शाखायें कहते हैं।

पुरुष सूक्त इन सबमें था या नहीं, यह आज पूर्ण रूप से निश्चित नहीं कहा जा सकता लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि पुरुष नाम का देवता न निघण्टु में है न निरुक्त में, न वृहददेवता में जो ऋग्वेद के देवताओं की विशद रूप में चर्चा करता है।

ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के अलावा कहीं भी वर्ण-व्यवस्था की बात नहीं मिलती। अगर यह सच है तो ये मानना पड़ेगा कि वेद और वर्ण-व्यवस्था का संबंध आगंतुक था, अनिवार्य नहीं।

यही नहीं, पुरुष सूक्त में भी खाली वर्ण-व्यवस्था की चर्चा नहीं है, बल्कि उसमें तो हर तरह की चीज़ की चर्चा है। सूर्य की भी है, चन्द्रमा की भी है, ऋतुओं की भी है और पता नहीं जाने किस-किसकी है। इन सबको पुरुष कहा गया है। इनको पुरुष कहने का अर्थ क्या है, ये समझना मुश्किल है लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि इनमें कोई छोटे-बड़े का भेद नहीं है। पुरुष सूक्त का प्रारंभ ही इसको स्पष्ट करता है। वो कहता है, ''पुरुषमेवेद सर्वं यद्भूतम् यच्चा भव्यम्'' यहाँ किसी वर्ण की बात नहीं है, न मनुष्य के समाज की, न मनुष्य की, न व्यवस्था की। यहाँ तो केवल इतना कहा जा रहा है कि ''सब कुछ'' पुरुष है, जो भी हुआ है, और जो भी होगा वह सब पुरुष है।

यही नहीं, इसके आगे तो ये भी कहा गया है कि जो व्यक्त जगत् है, जिसे हम जानते हैं वह उस अव्यक्त पुरुष का 'अंगुष्ठ मात्र' है। यहाँ अव्यक्त और व्यक्त की बात हो रही है, यहाँ संसार को समग्र और समस्त रूप में देखने की बात हो रही है। वो बात नहीं है जिसको लोगों ने वर्ण-व्यवस्था के रूप में समझा है। ऐसी गलती क्यों की गई, ये समझना मुश्किल है।

पुरुष सूक्त की कहानी ऋग्वेद से समाप्त नहीं होती। वो तो यजुर्वेद में भी मिलता है, शुक्ल यजुर्वेद में, और उसकी दोनों संहिताओं में जिनमें से एक का नाम वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता है और दूसरी का नाम काण्व संहिता। पहली यानि वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता का 31वाँ अध्याय करीब-करीब ऋग्वेद का ही पुरुष सूक्त है, लेकिन उसमें ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से 6 मन्त्र अधिक हैं।

यह बात अपने आप में 'असंभव' सी लगती है या लगनी चाहिए, कम से कम उन लोगों के लिए जो ऐसा मानते हैं कि वेद के मंत्रों में कभी भी न कुछ जोड़ा जा सकता है न घटाया जा सकता है। यजुर्वेद भी आखिर वेद ही है, पर उस वेद के संकलनकर्त्ता ने तो ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में छः मन्त्र अपनी तरफ से और जोड़ने में कोई दिक्कत महसूस नहीं की। यही नहीं, काण्व संहिता के 35वें अध्याय में भी पुरुष सूक्त मिलता है लेकिन इसके संकलनकर्त्ता ने तो ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में 39 नये मंत्र जोड़ने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई जिनमें से छः नये मंत्र तो वही थे जो वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता में मिलते हैं और बाकी उसने सब अपनी तरफ से जोड़ दिये।

अगर बात यहीं तक होती तो परेशानी तो होती, पर उतनी नहीं जितनी इस यजुर्वेद के और अध्यायों को देखने पर मिलती है। वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता का तीसवाँ अध्याय भी कुछ-कुछ इसी समस्या से ग्रसित मालूम होता है क्योंकि

उसका अन्त ये कहकर होता है कि 'मागधः पुंश्चली कितवः क्लीवोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः' इसमें 'पुंश्चली, कितव और क्लीव' की चर्चा की गई है और ये कहा गया है कि ये न ब्राह्मण हैं, न शूद्र हैं, पर फिर भी प्रजापति की संतान हैं, 'अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः'।

'प्रजापति', एक तरह से पुरुष का ही दूसरा रूप है, और यहाँ स्पष्ट रूप में कहा गया है कि खाली चार वर्णों से काम नहीं चलेगा क्योंकि ऐसे बहुत से लोग हैं जिन्हें न ब्राह्मण की संज्ञा दी जा सकती है न शूद्र की और वे क्षत्रिय या वैश्य तो हो ही नहीं सकते पर फिर भी जिन्हें प्रजापति की संतान मानना पड़ेगा।

जो लोग ऋग्वेद को मानते हैं उन्हें कितव (10/34) का नाम सुनकर, या पढ़कर आश्चर्य हुये बिना नहीं रहेगा क्योंकि कितव की बात ऋग्वेद में की गई है। कितव का मतलब जुआरी होता है और ऋग्वेद के 10वें मंडल के 34वें सूक्त में इसकी प्रसिद्ध चर्चा है। यह बात काण्व संहिता के 34वें अध्याय में भी मिलती है और वहाँ भी ये यही कहकर समाप्त होता है, 'मागधः पुंश्चली क्लीवः कितवोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः'।

ऐसा लगता है कि शुक्ल यजुर्वेद की परंपरा को मानने वालों ने ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की वर्ण-व्यवस्था की जो चर्चा थी और उससे कुछ लोगों ने समाज व्यवस्था का जो निष्कर्ष निकाला उसका खुलकर विरोध किया। अगर ऐसा नहीं होता तो शुक्ल यजुर्वेद की इन दोनों संहिताओं में इस अध्याय के होने का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि जो ये अध्याय कहता है वो उसके बिल्कुल विपरीत है जो कुछ लोगों ने ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के आधार पर कहने की कोशिश की थी।

पुरुष सूक्त केवल शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी और काण्व संहिता में ही नहीं मिलता, बल्कि अथर्ववेद में भी मिलता है और अथर्ववेद में इसका मिलना और भी आश्चर्यजनक है क्योंकि अथर्ववेद तो इस तरह की बातों से संबंधित माना ही नहीं जाता। अथर्ववेद की जो दो संहिताएँ उपलब्ध हैं, पैप्पलाद और शौनक दोनों में पुरुष सूक्त मिलता है लेकिन पैप्पलाद संहिता में केवल 14 मंत्र मिलते हैं जबकि शौनक संहिता में ऋग्वेद के पूरे के पूरे 16 मंत्र मिलते हैं। मंत्रों में पाठ भेद अवश्य है, पर बहुत ज़्यादा नहीं। पैप्पलाद संहिता के नवें अध्याय के पाँचवें सूक्त में ये और शौनक संहिता के उन्नीसवें अध्याय में छठवें सूक्त में ये पुरुष सूक्त आसानी से देखा जा सकता है।

इस तरह से देखने पर तो ऐसा सार लगता है कि कम से कम ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के आधार पर वर्ण की बात उस प्रकार करना जैसा आम तौर पर समझा गया है, बेकार है। अगर ध्यान से देखें और उनके वर्ण की बात सोचें तो आश्चर्यचकित हुये बिना नहीं रहा जायेगा। ऋग्वेद में इतने ऋषि और ऋषिकाएँ हैं, जिनको किसी भी दृष्टि से आर्य माना ही नहीं जा सकता, उनके वर्ण की बात

करना तो बिल्कुल ही बेकार लगता है। किसी ऋषि के आगे 'सर्प' लिखा हुआ है, किसी के आगे 'सार्पराज्ञी'। ये तो निश्चय ही उन जातियों के होंगे जो आर्य कही जाने वाली जातियों से अलग जंगलों में रहती होंगी।

निषद स्थपति और 'रथकार' की बात वेद के वैदिक यज्ञ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है और जिन लोगों ने रामायण पढ़ी है उन्हें निषादराज की कथा पता होगी और उस संदर्भ से ये स्पष्ट होता है कि जिस निषाद की चर्चा वैदिक यज्ञ के संदर्भ में की गई है वो उस समय के जंगलों के निवासियों का राजा था। यही बात रथकार के बारे में भी सच मालूम होती है। वो रथ के पहिये का बनाने वाला था। वो न क्षत्रिय हो सकता था, न वैश्य। उसको ब्राह्मण और शूद्र के वर्ग में रखना भी मुश्किल होगा। इन दोनों को यज्ञ में स्थान देना इस बात का सूचक है कि यज्ञ व्यवस्था बहुत से लोगों को शामिल नहीं करती थी लेकिन फिर भी उनको वैदिक व्यवस्था में, खासतौर से यज्ञ में, स्थान देना पड़ता था। लेकिन ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे इस समस्या ने वो रूप लिया जो आज करीब-करीब सर्वमान्य माना जाता है। शूद्रों को यज्ञ का अधिकार हो या न हो, इसकी चर्चा मीमांसा सूत्र में मिलती है, और मीमांसा सूत्र में ही नहीं ब्रह्मसूत्र में भी यह इस संदर्भ में मिलती है कि शूद्र को ब्रह्मविद्या का अधिकार है या नहीं। मीमांसा सूत्र के 6/1/6 में इस पर विशद चर्चा है और चर्चा का प्रारंभ पूर्व पक्ष यह कहकर शुरु करता है कि यज्ञ में सबका अधिकार है और होना चाहिए। इसके विपरीत 'एतिशायना' ऋषि ये कहते हैं कि स्त्रियों को तो अधिकार हो ही नहीं सकता क्योंकि श्रुति में जो शब्द प्रयुक्त होता है वो पुरुष के लिये है, लेकिन बादरायण इससे सहमत नहीं होते और ये कहते हैं कि पुमान शब्द का अर्थ केवल पुरुष नहीं है बल्कि मनुष्य मात्र है और इसलिये उसमें स्त्रियों भी सम्मिलित हैं और उनको भी यज्ञ का अधिकार माना जाना चाहिए। बादरायण की बात जैमिनी मान लेते हैं और इसलिये कम से कम इस संबंध में वो ये सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि स्त्रियों को यज्ञ का अधिकार है पर शूद्रों के बारे में वो ये मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इस संदर्भ में ध्यान देने की बात ये है कि उस समय के वैदिक ऋषियों में इस बारे में बहुत मतभेद था और जिनमें मतभेद था उनके नाम मीमांसा सूत्र में दिये हैं। सूत्र 6/1/24 और 6/1/27 में आत्रेय और बादरि के परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। बादरि तो शूद्रों को भी अधिकार देने के पक्ष में है और कहते हैं कि 'यजेत' शब्द का प्रयोग किसी वर्ण विशेष के लिए नहीं है बल्कि हरेक के लिये हैं। जैमिनी का मत इसके विरुद्ध है और बहुत लम्बी बहस के बाद वो यही प्रतिपादित करते हैं कि शूद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति में उसे वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। मीमांसा सूत्र के छठे अध्याय के पहले चरण में जो चर्चा है उस पर लोगों ने ध्यान नहीं दिया है। वरना उन्हें पता चलता कि उनमें कितना मतभेद था और पूर्व पक्ष और सिद्धान्त में कितनी बहस हुई थी। लेकिन ऐसा लगता है कि उस समय की

समाज-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जैमिनी का आग्रह था कि शूद्र को अधिकार नहीं दिया जाये। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात है कि यही बात ब्रह्मसूत्र में भी मिलती हैं। ब्रह्मसूत्र ब्रह्मविद्या की बात करता है और इसका अधिकार सबको ही होना चाहिए। ब्रह्मसूत्र के 1/1/34-38 में इस पर लम्बी बहस है। इस पर शांकर भाष्य को ध्यान से देखना चाहिए क्योंकि उससे पता चलेगा कि अद्वैत को सत्य मानने वाले आचार्य ने किस प्रकार शूद्रों को ब्रह्मविद्या के अधिकार से वंचित रखा।

अद्वैत की ये कहानी सबको पता नहीं है और जो ये गर्व से कहते फिरते हैं कि अद्वैत सबसे बड़ा दर्शन है उन्हें इसकी याद दिलानी चाहिये कि आचार्य ने इसके बारे में क्या कहा, और उपनिषद् जिसे श्रुति मानती है, उसे तोड़-मरोड़कर पेश करते हैं। शंकर ने इस विषय पर ब्रह्मसूत्र के भाष्य में और छान्दोग्य के भाष्य में चर्चा की है और छान्दोग्य में चर्चा ब्रह्मसूत्र के भाष्य से अधिक जटिल है। बात छान्दोग्य में जानश्रुति की कथा को लेकर है कि जानश्रुति शूद्र थे या नहीं। और रैकव ने जो ज्ञान दिया वो शूद्र को दिया या अन्य को दिया। और रैकव को ब्रह्मज्ञान था तो वह न क्षत्रिय थे, न ब्राह्मण, न वैश्य तो उसका वर्ण क्या था।

शंकर अपने छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य के अंत में ये कहते हैं कि चरम अनुभव तो सबको हो सकता है पर यदि ब्राह्मण हो तो अधिक अच्छा होगा। यही नहीं, वो इस अनुभव में भी भेद करते हैं। और ऐसा कहते हैं कि रैकव आदि को उस प्रकार का ज्ञान था, न कि ब्रह्मज्ञान जिसकी उपनिषद् में चर्चा है। अंत में वो ये कहकर समाप्त करते हैं कि यह 'योगी' तो होते हैं और ऐसे लोग तो हुये हैं पर फिर भी वह ब्रह्मज्ञान जिसकी चर्चा उपनिषद् में है, वेद को जाने बगैर नहीं हो सकता।

इस बहस में आश्चर्य की बात ये है कि ब्रह्मसूत्र का रचयिता और शंकर केवल रैकव की बात करते हैं, सत्यकाम जाबाल की नहीं जहाँ बात अधिक स्पष्ट है।

जो कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था में शूद्र की बात वेद के पुरुष सूक्त के आधार पर नहीं, मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र के आधार पर की गई है।

यही नहीं, जिन लोगों ने ये कहा उन्होंने गीता को जो स्वयं प्रस्थानत्रयी में कही जाती है, उसकी स्पष्ट रूप में अवहेलना की है हालांकि वो कृष्ण को भगवान का रूप मानते हैं। गीता के नवें अध्याय के 31वें श्लोक में ये स्पष्ट कहा है कि शूद्र, स्त्रियाँ और वैश्य सब उस ज्ञान के अधिकारी हैं जो मोक्ष की ओर ले जाता है। आचार्य शंकर ने इस पर भाष्य लिखा है पर इस श्लोक पर लिखते हुये उन्हें ज़रा भी यह महसूस नहीं हुआ कि छान्दोग्य और ब्रह्मसूत्र की बात को गीता तिरस्कार करती है। गीता में वैश्यों को भी शूद्र और स्त्रियों के साथ रखा है, लगता है, गीता तक आते-आते उनकी हालत शूद्र जैसी हो जाती है। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय को यज्ञ और ब्रह्मविद्या का अधिकार बाकी रह जाता है।

पुरुष सूक्त की ये कथा लम्बी और पुरानी है; इससे एक सबक आसानी से सीखा जा सकता है कि जब हम किसी व्यवस्था का आधार किसी पुस्तक विशेष में मानते हैं तो वो उन सब बातों को भुलाकर जो उसकी विरोधी हैं जो हम कहना चाहते हैं। कुरान और बाइबिल के बारे में ये बात जितनी सच है उतनी ही वेद के बारे में भी। इन ग्रन्थों की ही बात नहीं, ये मार्क्स, लॉक और जेम्स मिल के बारे में भी उतनी ही सच है जितनी कि उन परंपराओं के बारे में जो अपना स्रोत किसी ग्रन्थ विशेष में ढूँढ़ती हैं। कितने झगड़े हुये हैं इस बात को लेकर कि मार्क्स ने जो कहा उसका अर्थ क्या था। यही बात उन विचारक और ग्रन्थों के बारे में भी है जिनको हम प्रजातंत्र कहे जाने वाले चिंतन का आधार मानते हैं। यही नहीं, जो लोग 'Reason' या Rationality की बात करते हैं उन्हें भी यह मुसीबत होती है कि अरस्तू ने इसके बारे में क्या कहा। व्लेग्म के बारे में प्लेटो ने रिपब्लिक में क्या कहा। जब तक हम ग्रन्थों को और उनके लिखने वालों को नहीं भुला देंगे और समस्या पर सीधी बात नहीं करेंगे तो यही कहेंगे कि वेद ने क्या कहा है या किसी और ग्रन्थ ने या उसके लिखने वाले ने क्या कहा है, तब तक हम अपनी बुद्धि को बेचकर या गिरवी रखकर ऐसे ही झगडों में पड़े रहेंगे।

❑

दार्शनिकों के तर्क : न प्रत्यक्ष, न अनुमान, न शब्द, न उपमान

दार्शनिक चिन्तन बुद्धिनिष्ठ है और उसका केन्द्रबिन्दु तर्क है। तर्क के सहारे ही दार्शनिक चिन्तन बढ़ता और पनपता है। लेकिन तर्क के स्वरूप को शायद उस तरह से समझा नहीं गया है जैसे उसे समझना चाहिए। तर्क न अनुमान है, न प्रत्यक्ष, न शब्द है, न उपमान, और न उसमें प्रमाण है, उस अर्थ में जिस अर्थ में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तर्क क्या है और दार्शनिक चिन्तन में वह अपने किस रूप में प्रकट होता है, जब तक हम इसको नहीं समझेंगे तब तक 'दर्शन' को शायद ही समझ पायेंगे। दर्शन के इतिहास को लें तो उसमें तर्क के अनेक रूप मिलते हैं, जिन पर अगर ध्यान से सोचें तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। उदाहरण के लिए पश्चिमी दर्शन के इतिहास के प्रारम्भ में दो तर्क मिलते हैं जिनको तर्क कहना साधारण आदमी को ही नहीं बल्कि विद्वानों को भी बहुत अजीब लगेगा।

पहला तर्क कुछ इस प्रकार का है–''अगर 'सत्' है और देश है तो वह सर्वव्यापक होगा ही। ऐसे रिक्त स्थान की कल्पना करना जहाँ वह नहीं है, असम्भव है। और अगर कोई रिक्त स्थान है ही नहीं तो न अनेकता हो सकती है न गति। लेकिन हमें अनेक अलग-अलग पदार्थ दिखाई देते हैं और परिवर्तन और गति भी सबको सहज रूप में दिखायी देती है। तब यदि हमारा तर्क ठीक है तो यह जो प्रत्यक्षानुभूत होता है वह असत् है, यानि सत्य हो ही नहीं सकता। गति और नानात्व असंभव हैं, चाहे आपको वे कितने ही वास्तव लगें।'' यह तर्क पारमेनिडीज़ के नाम से जोड़ा जाता है। लेकिन तर्क अपने आप में स्वतन्त्र है, उसको किसी के नाम से जोड़ने की ज़रूरत नहीं है। इस तर्क पर चिन्तन करने पर दर्शन के स्वरूप का आपको कुछ आभास मिलेगा, चाहे वह कितना ही 'क्षीण' क्यों न हो।

इसी तरह का एक अन्य तर्क ज़ीनो के नाम से सम्बन्धित है। वह तर्क भी अजीब प्रकार का है। उस तर्क के अनेक रूप हैं लेकिन उसके एक रूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–